

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३९ अंक-१८५, वर्ष-१६, फरवरी-२०१३

आसो वद १, मंगलवार, दि.१७-१०-१९७८, बहिनश्री के वचनामृत, वचनामृत-
३२७-३२८ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - १२२

३२७ 'वचनामृत' 'देवलोकमें उच्च प्रकार के रत्न और महल हों...' महल-मकान। 'उससे आत्मा को क्या ?' बाहरी ऋद्धि चाहे कितनी भी हो इससे आत्मा को कहाँ शांति है ? 'कर्मभूमिके मनुष्य भोजन पकाकर खाते हैं वहाँ भी आकुलता और देवों को कण्ठमें अमृत झरता है वहाँ भी आकुलता ही है।' आहा..हा.. ! 'छह खण्ड को साधनेवाले चक्रवर्ती के राज्य में भी आकुलता है।' पर तरफ की सामग्री या ऋद्धि सो तो दुःख के निमित्त हैं, आकुलता के निमित्त हैं। आहा..हा.. !

'अंतर की ऋद्धि न प्रगटे,...' आहा..हा.. ! भगवान अनन्त शांतिका रसकंद है, अनन्त अतीन्द्रिय आनंद है उसकी दृष्टि करके जब तक अंतरंग शांति प्रगट नहीं होती तबतक कहीं भी शांति नहीं होती। 'अंतर ऋद्धि न प्रगटे' ऋद्धि, सिद्धि, वृद्धि दिसे घटमें प्रगट सदा। भगवान आत्मा अनाकूल आनंद और अकषाय शांतरस से भरा भण्डार (है)। जबतक उसमें से शांति प्रगट नहीं होगी तबतक और कहीं भी शांति नहीं है। आहा..हा.. ! 'अंतर ऋद्धि न प्रगटे,...' आत्मा का सम्यक्दर्शन, आत्मा का ज्ञान, आत्मिक शांति, आत्मा की स्वच्छता, आत्मा का शांत त्रिकाली स्वभाव उसमें से यानी शक्तिमें से व्यक्ति नहीं प्रगट होगी तबतक कहीं शांति प्राप्त नहीं होगी। आहा..हा.. !

शांति न प्रगटे 'अंतर की ऋद्धि न प्रगटे, शांति न प्रगटे तो बाह्य ऋद्धि और वैभव क्या शांति देंगे ?' बहुत अनुकूलता के साधन झुटा लिये इसलिये अब शांति मिली शांति, ऐसा हरगिज नहीं है। वे सारी बाहरी ऋद्धियाँ आकुलता में निमित्त हैं। भगवान का अनाकूल स्वभाव शांत, शांतरस कंद प्रभु, उसकी ऋद्धि-अंतर से न प्रगटे तबतक कहीं भी शांति नहीं है। आहा..हा.. ! 'बाह्य ऋद्धि और वैभव क्या शान्ति देंगे ?' एक (मुनिने) लिखा है कि, वर्तमान साधु बिना समकित दूसरे को साधुपना दे देते हैं। हालाँकि खुदको समकित का अभाव है। उन बेचारों को बाह्यक्रिया...

मुमुक्षु :- लेने वाले लेते तो हैं न ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- लेनेवाले क्यों लेते हैं ? लेनेवाले को पता नहीं है क्या ? साधु किसे कहते हैं ? अभी तो समकित का ठिकाना न हों। आहा..हा.. ! ऐसे ही ले लो पंचमहाव्रत और हो गये त्यागी। सो तो अज्ञान की पुष्टि है। आहा..हा.. ! लेनेवाले को भी अज्ञान और देनेवाले को भी पता नहीं है कि सम्यक्दर्शन क्या है और सम्यक्चारित्र क्या ? आहा..हा.. !



मुमुक्षु :- (किसे कहना?)

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह है आगे अब आयेगा। आहा..हा..! मुनिपना किसको कहना, बापू! आहा..हा..! 'मुनिदशा का क्या कहना! है वही आया है। आहा..हा..! 'मुनिदशा का क्या कहना! मुनि तो प्रमत्त-अप्रमत्तपने में सदा झूलनेवाले हैं।' क्षण में छठवाँ, क्षणमें सातवाँ गुणस्थान (आता हो) उन्हें मुनि कहते हैं। विकल्प आये, सम्यक्दर्शन समेत अनुभव हुआ है, चारित्र में भी स्वरूप रमणता प्रगट हुई है, सातवें गुणस्थान में इसमें से नीचे आये तब विकल्प उठे वह प्रमाद दशा, फिर से सातवें में आरूढ़ होते हैं वह अप्रमत्तदशा! आहा..हा..! छठे गुणस्थान में आते हैं फिर क्षण में सातवें में आरूढ़ हो जाते हैं। सातवे में आवे फिर क्षण में छठवें में आवे, संतो की-भावलिङ्गी मुनि की ऐसी दशा होती है। आहा..हा..! ये पंचमहाव्रत के परिणाम लिये सो तो राग है। नग्नपना सो तो अजीव की क्रिया है। आहा..हा..! इसमें कहाँ आत्मा आ गया?

आत्मा जिसमें आनंद का नाथ प्रभु, उसमें जिसको सम्यक्दर्शन का अनुभव हुआ पहले। आहा..हा..! ३८ वीं गाथा में कैसी बात आयी देखो न! गुरु ने समझाया वे श्रोता ऐसा कहते हैं कि, मैं ऐसा हूँ। मुझे पुनः मोह की उत्पत्ति नहीं होती। आहा..हा..! ऐसी शैली, ऐसी शैली। आहा..हा..! ऐसे भावों का जिन्हें श्रवण हुआ और अंतरमें जिसने ध्रुव के तल को देखा, जाना और अनुभव किया। आहा..हा..! आचरण सहित है न। वह श्रोता ऐसा कहता है; गुरु द्वारा उपदिष्ट श्रोता ऐसा कहता है कि, मेरे जो मिथ्यात्व के मोह का नाश हुआ वह अब पुनः उत्पन्न नहीं होगा। आहा..हा..! गजबकी बात! यह ३८ वीं गाथा का प्रथम ऐसा अर्थ आया। आगे ऐसा अर्थ नहीं आया था। आहा..हा..! प्रथम समुच्चय (कहते हुए कि), मुनि ऐसा (कहते हैं), परन्तु यह तो, आहा..हा..!

जीव-आत्मा जिसने जाना और बताया और जिसने जाना (वह) भी अंतर स्वसंवेदनपूर्वक जाना, केवल सुनकर नहीं। आहा..हा..! अपना स्व आनंदस्वरूप, शांत स्वरूप उसके वेदन से निर्विकल्प समाधि से जिसने आत्मा को जाना। आहा..हा..! वे ऐसा कहते हैं, हमें ये जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुआ है इससे हमने मोह को मूलमें से नष्ट कर डाला है। आहा..हा..! समझानेवाले

गुरु छद्मस्थ हैं। वह समझानेवाला इतना तो कहता है। आहा..हा..! गुरु ने समझाया ऐसा है न? क्योंकि, यह पंचमकाल की बात है न! केवली ने समझाया कि, वह बात अभी यहाँ पर नहीं है। आहा..हा..! विरक्त गुरुने समझाया। आहा..हा..! राग की रक्तता जिन्हें छूट गई है और अतीन्द्रिय आनंद की दशा रक्त प्रगट हुई है। राग से विरक्त हुए हैं। आहा..हा..! और स्वरूप में रक्त हुए हैं ऐसे गुरु ने समझाया। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- सम्यग्दृष्टि राग से विरक्त हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री :- विरक्त हैं राग से। ये तो संतो की बात है अभी, निर्ग्रथ की। पंचमआरे में संतो की अपेक्षा से बात है। फिर भी राग से भिन्न सम्यग्दृष्टि हुआ है वह भी (राग से विरक्त है)। उसमें लिया है, आप्त लिया है। 'अध्यात्मपंच संग्रह' सम्यग्दृष्टि को आप्त में लिया है। है, उस 'पंचसंग्रह' 'दीपचंदनी' का 'अध्यात्म पंचसंग्रह' हित की बात करते हैं और हित जिन्हें प्रगट हुआ है वे आप्त गुरु हैं।

'मुनि तो प्रमत्त-अप्रमत्तपने में...' आहा..हा..! अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रिय ज्ञान तो प्रगट हुआ है, शास्त्रज्ञान नहीं। आहा..हा..! ऐसा अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय शांति प्रगट हुई है और जिन्हें चारित्रदशा में रमणता है, ऐसे मुनि... आहा..हा..! क्षण में सप्तम गुणस्थान में आते हैं, क्षणमें छठे गुणस्थान में आते हैं। 'उन्हें तो सर्वगुणसंपन्न कहा जा सकता है।'

'नियमसार' में आता है न? आहा..हा..! जिन्हें तीन कषाय का नाश होकर, तीन कषाय के अभाव की शांति प्रगट हुई है। आहा..हा..! सर्वार्थसिद्धि के समकिति एकावतारी जीव, उन्हें जो शांति है इससे पंचमगुणस्थानवर्ती को अधिक शांतिका वेदन है। उसे गुणस्थान कहते हैं। आहा..हा..! छठे गुणस्थान में इससे भी अधिक शांति है, सातवें में इससे भी अधिक शांति है। क्षणमें निर्विकल्प क्षणमें सविकल्प। आहा..हा..! शांति के झूले पर झूलते हैं। आहा..हा..! धन्य अवतार! उसे मुनिदशा (कहते हैं)। आहा..हा..! 'उन्हें तो सर्व गुण सम्पन्न कहा जा सकता है।'

'नियमसार' के एक कलश में कहा है। एक कलश में कुछ ऐसा कहा है कि, थोड़ा राग बचा है इसलिये पूर्ण नहीं है। दूसरे श्लोकमें ऐसा कहा कि, सो तो इन्हें पूर्ण न माने (वह) जड़-सा है। आहा..हा..! क्योंकि

‘प्रवचनसार’की अंतिम पाँच गाथाओं में दर्शन ज्ञान और चारित्र, वस्तु का दर्शन, वस्तु का ज्ञान और वस्तु की रमणता ऐसा जिन्हें प्रगट हुआ उसे मोक्षतत्त्व कहा है। आहा..हा..! आखरी पाँच गाथा हैं न? आहा..हा..! इसकी क्या बात करना, बापू! ये तो अभी, आहा..हा..! दर्शन दुर्लभ हो गये, भाई! आहा..हा..! वीतराग तीन लोक के नाथ के दर्शन तो दुर्लभ हो गये परन्तु ऐसे संतो का भी विरह हो गया। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- संतो के कथन तो रह गये न।

पूज्य गुरुदेवश्री :- भाव रह गये परन्तु खुद कहाँ है? आहा..हा..! ‘उन्हें तो सर्वगुण सम्पन्न कहा जा सकता है!’ आहा..हा..! सर्व गुण सम्पन्न चारित्र है न? परमेष्ठि हैं न? आहा..हा..! अतीन्द्रिय आनंद के प्रचूर स्वसंवेदन में है। आया नहीं पाँचवी गाथा में? आहा..हा..! मुनि को तो प्रचूर स्वसंवेदन भावलिंग में जिन्हें प्रगट हुआ है; आहा..हा..! उन्हें सर्वगुण सम्पन्न कह सकते हैं। आहा..हा..!

‘अनुभव संजीवनी’ ग्रंथमें से कुछएक वचनामृत)

मुमुक्षुजीवको भी ‘स्वयं सत् परमानंदमय है’ ऐसा दृढ़ नहीं रहे तो बाह्य शातामें ठीक लगता है; जो कि पुरुषार्थ उत्पन्न होनेमें अवरोधक कारण है - अटकनेका स्थान है - योग्यताको रोकता है। उदयमें सावधानी जो है वह स्वरूपकी सावधानी होने नहीं देती। वह लक्ष्यमें (तीक्ष्णतासे) रहना चाहिये। (६२)



प्रत्यक्ष सत्-पुरुषसे विमुख रहना अथवा उपेक्षित रहना - वह प्रगट अनंतानुबंधीका कषाय है। (६३)



शुद्धात्मामें मग्नताका अभिलाषी जीव असंगताको चाहता है - बाहरमें संगका राग असंगतत्वके लिये विसंगत है / अनुकूल नहीं है। ‘अशुभयोगका रस’ तो तीव्र मलिनताका उत्पादक होनेसे असंग स्वरूपका भासन होनेमें निश्चितरूपसे अवरोधक बनता है। (६४)



अनित्य, अशरण, अन्यत्व :- जो सुखस्वरूप नहीं है, जो अनित्य है और जो शरणभूत नहीं हो सकते हैं, ऐसे (अन्यत्वभावरूप) भिन्न पदार्थ जीवको प्रीतिका कारण क्यों होते हैं ? - वह सतत अंतर खोजपूर्वक विचार करने योग्य है अर्थात् जाँच करने योग्य है। (६५)



एकत्व जीव सर्वत्र अकेला ही है, भवांतर अकेलेका ही होता है, अर्थात् देहकी संयोगरूप जन्मावस्था, देहत्यागरूप मरणतुल्य दुःखावस्था आदिमें जीव अकेला ही दुःख भोगता है। सम्यक् पुरुषार्थ करके स्वभावको पाकर जीव अकेला ही मोक्षरूप सिद्धिको प्राप्त होता है। (६६)



अहो! सारा जगत भले ही विविधता सभर तो है फिर भी, अपने आपसे शून्य (खाली) ही देखनेमें आता है; फिर उसमें आकर्षण क्यों ? उसका आश्चर्य किस लिये ? कुतूहल किस लिये ? अंतरमें महा आनंद सभर निज चैतन्य रत्न चमकता है; उसमें अंतर्मुख - केवल अंतर्मुख रहने योग्य है - स्थिर होने योग्य है। (६७)



वर्तमानमें ‘दुर्लभयोग’ जीवको प्राप्त हुआ है। तो अब इसमें थोड़ा प्रमाद करके - पुरुषार्थसे वंचित रहकर अमूल्य समय गँवाना उचित नहीं है। परमरस अर्थात् अमृतरसका शीघ्र आस्वाद लेने योग्य है। (६८)



निज भावना :- मैं सर्वसे, सर्व प्रकारसे, सर्वदा भिन्न हूँ। एक केवल शुद्ध चैतन्य, प्रगट चैतन्यस्वरूप, अचिंत्य सुखस्वरूप, आनंदसागर, परम उत्कृष्ट शांत, एकांत शांत-परम शांत, अभेद अनुभूतिमात्र निर्विकल्प हूँ। (६९)



श्री परमागमसार वचनामृत-३५१-३५२ पर
पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन-१७४
(दि.३-९-१९८३, भावनगर)

सम्यग्दर्शनका लक्षण क्या कहा ? - कि भेद-ज्ञानकी प्रवीणतासे आत्मज्ञान द्वारा आत्माको जैसा जाना है, वैसा ही प्रतीतिमें आना - वही सम्यग्दर्शनका लक्षण है । ज्ञानमें पूर्णानन्द अभेद-अखण्ड आत्माका ज्ञान होने पर जैसा आत्मा जाना वैसी ही प्रतीति होने पर सम्यक्श्रद्धान प्रकाशित हो उठता है । ३५१

‘परमागमसार’ ३५१। पन्ना-९२

‘समयसार’ की १७-१८ गाथा का विषय है। ३५१ वें बोल में प्रतीति होनेपर सम्यक्श्रद्धान का उद्योत होता है। यह विषय लिया है। ‘सम्यग्दर्शन का लक्षण क्या कहा ?’ ऐसा कहकर खुलासा करते हैं। जिसे सम्यग्दर्शन कहें या सम्यक्श्रद्धान कहे। दर्शन के दो अर्थ हैं। श्रद्धान और दर्शन उपयोग-देखना। दर्शन से देखना ऐसा भी अर्थ होता है और श्रद्धा करना ऐसा भी अर्थ होता है। यहाँ पर श्रद्धान का विषय है।

‘सम्यग्दर्शन का लक्षण क्या कहा ? कि भेदज्ञान की प्रविणता से आत्मज्ञान द्वारा आत्मा को जैसा जाना हैं, वैसा ही प्रतीति में आना-वही सम्यग्दर्शन का लक्षण है।’ दर्शन क्या ? श्रद्धान क्या ? प्रतीति क्या ? यहाँपर तीनों एकार्थवाचक हैं। श्रद्धान का प्रश्न चला था न ? श्रद्धान का कोई गुण नहीं है। प्रतीति करना, दर्शन होना, श्रद्धान होना। तीन शब्दों का यहाँ प्रयोग है।

मुमुक्षु :- वह गुण नहीं है ?

पूज्य भाईश्री :- एक भाई कहते थे, आत्मा में श्रद्धा नामका कोई गुण ही कहाँ है ? ४७ शक्तियों में उसकी बात कहाँ आयी है ? कहाँ से तर्क किया है सो तो ठीक किया है। ज्ञान की शक्ति की बात की, सर्वज्ञशक्ति की बात की, दर्शनशक्ति की

बात की, सर्वदर्शित्वकी बात की, सुखशक्ति की बात की है। स्वच्छत्व, प्रकाशत्व, प्रभुत्व इत्यादि अनेक शक्तियों की, अकारणकार्यत्व सब शक्तियों की बात की हैं। लेकिन उनमें श्रद्धान नाम की शक्ति नहीं ली है। तर्क उठाया है वह यहाँ से उठाया है। शास्त्र में ऐसी परिभाषा है।

‘सम्यग्दर्शन का लक्षण क्या कहा ? कि भेदज्ञान की प्रविणता से आत्मज्ञान द्वारा आत्मा को जैसा जाना हैं, वैसा ही प्रतीति में आना-वही सम्यग्दर्शन का लक्षण है।’ निर्विकल्प उपयोगमें...

मुमुक्षु :- आत्मज्ञान द्वारा

पूज्य भाईश्री :- गुणभेद की अपेक्षा विभिन्न गुणों की पर्याय है। आत्मज्ञान है सो ज्ञानगुण की पर्याय है जबकि सम्यग्दर्शन है वह श्रद्धान नाम दर्शनगुण की पर्याय है। वहाँ दर्शनगुण मतलब देखना सो बात नहीं है। दर्शन नाम श्रद्धा करना, प्रतीति करनी। हालाँकि दोनों समकालिन हैं।

मुमुक्षु :- साध्य-साधनका...

पूज्य भाईश्री :- साध्य-साधन का व्यवहार किया जाता है। ज्ञान द्वारा श्रद्धा होती है ऐसा साध्य-साधन का व्यवहार किया जाता है। दोनों स्वतंत्ररूपसे परिणामन करते हैं। किसी भी गुण के परिणामन को निश्चय से किसी भी अन्य गुण की सहाय

नहीं है। फिर भी आपसी तालमेलयुक्त कार्य देखते हुए साध्य-साधन का व्यवहार किया जाता है। जिसको सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान होता है, उनको सम्यग्दर्शन व सम्यक्ज्ञान द्वारा सम्यक्चारित्र प्रगट हो सकता है। इसतरह चारित्ररूपी साध्य को दर्शन-ज्ञान का साधन कहा जाता है। जबकि दर्शन को ज्ञान का साधन कहा जाता है। ज्ञान है सो साधन है, दर्शन है, वह साध्य है।

मुमुक्षु :- परिणामन तो स्वयंभू है...

पूज्य भाईश्री :- स्वयंभू परिणामन है, समकालिन परिणामन है।

मुमुक्षु :- परिणामन स्वयंभू है लेकिन जीव को जो अवरोध है वह...

पूज्य भाईश्री :- ऐसा निमित्तत्व जानकर कहा जाता है। क्योंकि अवरोध भी अनेक प्रकार से हैं। अवरोध में तो मिथ्याश्रद्धान भी अवरोध है, मिथ्याज्ञान भी अवरोध है, अनन्तानुबंधी का कषायरूप आवरण भी अवरोध है। सब गुणों में विपरीत परिणामन हैं सो तो अवरोधरूप ही है। परन्तु गुण की विशिष्टता, परिणामन की विशिष्टता इसका प्रकार देखते हुए, विशिष्ट प्रकार देखते हुए कारण-कार्य का उपचार किया जाता है। ऐसा निमित्तत्व है। कर्तापना नहीं है परन्तु निमित्तत्व है। निमित्तत्व जरूर है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

जैसे कि वीतराग देव-शास्त्र-गुरु में देशनालब्धिका निमित्तत्व है। कर्तापना नहीं है। परन्तु वीतराग देव-गुरु-शास्त्र के अलावा कोई भी देव-गुरु-शास्त्र जगत में कहलाते हो, तो उसमें तो सम्यग्दर्शन का निमित्तत्व भी मौजूद नहीं है। इतना फर्क है। अज्ञानी के मिथ्यादृष्टि के हजारों प्रकार से, करोड़ों प्रकारसे उपदेश आता हो तो भी देशनालब्धि में ज्ञानी का एक वचन निमित्तभूत होता है जबकि इनके हजारों-करोड़ों वचन भी निमित्तभूत नहीं होते हैं। अरे! सत्शास्त्रों का आधार देकर बात करे तो भी उसके वचन निमित्तभूत नहीं होते। उसका वचन निमित्त नहीं होता। यह इसका नियम है। अनादि-अनन्त इसका नियम है। किसी काल में वह सम्भव नहीं

है। ऐसा निमित्तत्व उसमें रहा है। इतनी बात को स्वीकार करना पड़े। ऐसा है।

मुमुक्षु :- इसमें भूल करे तो आगे ही न बदे...

पूज्य भाईश्री :- वह प्रश्न ही नहीं है। जिसको निमित्तकी खबर नहीं है उसे उपादान का पता है यह बात ही विचार करने जैसी नहीं है। वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। निमित्त में भूला है, वह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है, जरूरत ही नहीं है कि वह उपादान में भूला है। वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता है, बात पूरी हो जाती है। वहीं से बात पूर्णविराम हो जाती है। ऐसा है।

मुमुक्षु :- सत्पुरुष के वचन को गौण करके...

पूज्य भाईश्री :- हाँ। अज्ञानी की मुख्यता करे, सत्पुरुष की गौणता करे, सम्यग्ज्ञानी की गौणता करे, अज्ञानी की मुख्यता करे वह निमित्त में भूला है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि वह उपादान में भी भूला हुआ ही है। इसकी परीक्षा करने की भी जरूरत नहीं है। नियमबद्धरूप से, निश्चितरूप से, नियतरूप से, वह भूला हुआ ही है। इसमें कोई सवाल ही नहीं है।

मुमुक्षु :- वचन तो सत्पुरुष के व अज्ञानी के एक से होते हैं?

पूज्य भाईश्री :- सरीखा लगता है परन्तु फर्क जो है सो है ही। इसमें कोई सवाल नहीं है। जो आत्मरस सत्पुरुष को उपजता है और इसके निमित्त से जो वचन निकलते हैं वैसा आत्मरस अज्ञानी को उत्पन्न हुआ ही नहीं होने से प्रकारान्तर हो जाता है। और उस अंतर को तो मिटाना संभव नहीं है। ऐसा है।

मुमुक्षु :- निमित्त की स्थूल भूल है।

पूज्य भाईश्री :- स्थूल भूल है। या फिर विपर्यास बहुत बढ चूका है। स्थूल भूल कहो या विपर्यास की वृद्धि कहो दोनों एक ही बात हैं।

मुमुक्षु :- आत्मा ज्ञानस्वरूप है यह अज्ञानी कहे और आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा ज्ञानी कहे, इसमें क्या...

पूज्य भाईश्री :- एक कुत्ता चोर को देखकर भोंके जबकि दूसरा बिना देखे भोंके दोनों में अंतर है। दोनों एक-सा भोंकते हैं। क्योंकि चोर को देखकर भोंकते हुए कुत्ते का भोंकना सुनने पर उसे भी लगता है कि कोई चोर होगा इसलिये इसतरह भोंकता है। फिर भी दोनों के भोंकने में अंतर है। उस कुत्ते ने किसी चोर को देखा है इसलिये इसतरह भोंकता है यह लगते ही वह भी वैसे ही भोंकने लगता है। फिर भी दोनों में फर्क है। फर्क है या नहीं ?

ज्ञान में अंतर वस्तु प्रत्यक्ष हो तब जो भाव आयें और एक वस्तु को जिसने देखी ही नहीं है, जिस विषय में अंधकार है। उसे वैसा भाव कहाँ से आयेगा? बहुत बड़ा अंतर है। भगवान ने केवलज्ञान में जैसा आत्मा देखा है वैसा जिनके मति-श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष है, वे जो प्रत्यक्ष देखकर आत्मा की बात करे और दूसरा जिसे अनादि से इस विषय का ज्ञान ही नहीं है। आत्मा को देखा ही नहीं है अनादिसे। जैसे कोई जन्मांध होता है। उसे आप रंग-रूप के बारे में क्या पुछेंगे? जन्मांध को रंग-रूप के बारे में पूछकर क्या पुछेंगे? वैसे अनादि से जो अंध है, जिसने कभी अपने स्वरूप को देखा ही नहीं है। वह स्वरूप के बारे में क्या कहेगा? वह जो भी कहता है सब ऊपर-ऊपर से चलता है, ऊपर-ऊपर से कहता है। एक को पूरा विषय प्रत्यक्ष है। जब कि एक को आत्मा प्रत्यक्ष है। दोनों की बराबरी कैसे हो?

मुमुक्षु :- अज्ञानी को कैसे पता चले?

पूज्य भाईश्री :- उसके लिये तो वह (प्रश्न) है। आप कहेंगे यह हीरा भी तो चमकता है। चमक तो पोखराज की 'बेंगकोक'के नकली हीरे की भी होती है और असली हीरे में भी चमक होती है। चमकते तो दोनों ही हैं। एक चमक असली हीरे की है और एक नकली हीरे की चमक है। लेकिन इसका पता कैसे चले? कि इसका अभ्यास करना जरूरी है। इसे पहचानने के लिये तैयारी करना अनिवार्य है।

मुमुक्षु :- वह तो अपनी चाहिये न?

पूज्य भाईश्री :- वह तो अपनी ही चाहिए, इसमें कोई सिखाये और सीखने का विषय नहीं है।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- न भूतो न भविष्यति! कोई अज्ञानी एक शब्द बोले तो भी उसमें निमित्तत्व खड़ा नहीं होता। ऐसा है। निमित्तत्व नहीं है उसमें। शब्द वहीं के वहीं है परन्तु अंदर में भाव नहीं है। क्योंकि वहाँ (ज्ञानी की वाणी में) केवल शब्द नहीं है। वहाँ मात्र शब्दों की उपस्थिति नहीं है। साक्षात् जागृत चैतन्य की वहाँ उपस्थिति है। वैसे भी केवल शब्द निमित्त नहीं है वह तो कहा जाता है शब्दों को निमित्त। कहनेवाले का भाव हकीकत में पढ़ा है। सो तो निमित्तभूत हुआ हो उसे ही पता चले।

मुमुक्षु :- लेखन में...

पूज्य भाईश्री :- लेखन भी अज्ञानी का निमित्तभूत नहीं होता। सत्शास्त्र निमित्तभूत होता है। सत्पुरुष द्वारा लिखा गया शास्त्र हो तो निमित्तभूत होता है। ऐसा है। आचार्य का, भावलिङ्गी संत द्वारा लिखित शास्त्र हो तो निमित्तभूत होता है। अज्ञानी का शास्त्र निमित्तभूत नहीं होता।

यहाँ जो देशनालब्धि मिलती है वह प्रत्यक्ष सत्पुरुष से, उसमें शब्दों पर ध्यान नहीं होता। हालाँकि वास्तवमें practical side ही वह है, कि आप कोई भी व्यवहार करते हो उसमें आपका शब्द पर ध्यान नहीं होता। सामनेवाले के भाव पर ही ध्यान होता है। हितेच्छु व्यक्ति कटु वचन कहेगा तो भी आप हितवचन समझेंगे। समझेंगे कि नहीं? और कोई दुश्मन हो वह मीठा वचन बोलेगा तो भी आप कहेंगे कि यह मीठी छूरी है, सावधान रहना होगा। कहते हैं कि नहीं? वचन का विषय नहीं है। भाव ही देखे जाते हैं, इसकी practical side ही यह है। भाव ही देखा जाता है। इसप्रकार जिसे प्रत्यक्ष ज्ञानी के योग में वे जब निमित्तभूत होते हैं, देशनालब्धि उत्पन्न होती है, उसवक्त उनके आत्मभाव का दर्शन होता है। शब्द सुनना या पढ़ना यह गौण

विषय है। उसमें निहित भाव को देखा जाता है। भावश्रुतज्ञान का संबंध भाव के साथ है, द्रव्य के साथ नहीं है। जहाँतक श्रुतज्ञान का संबंध द्रव्य के साथ है तबतक उसे द्रव्यश्रुत कहते हैं। और जैसे ही भाव के साथ संबंध होते ही वह भावश्रुत में पलट जाता है। ऐसा है। इसलिये उसे वहाँ भावश्रुत कहते हैं।

मुमुक्षु :- ज्ञानी के वचन कोई दूसरी व्यक्ति लिखे तो निमित्तभूत होंगे कि नहीं?

पूज्य भाईश्री :- निमित्तभूत नहीं होंगे। क्योंकि वहाँ किस्सा बदल गया। वही के वही वचन हैं परन्तु ज्ञानी के वचन हैं ऐसा उद्धरण करके कहे तो दूसरी बात हो जाती है। उद्धरण करे तो वह दूसरी बात हो जाती है। ऐसा कहते हैं। आचार्य ऐसा कहते हैं, या कोई ज्ञानी ऐसा कहते हैं, ऐसा कहे तो निमित्त पड़े।

मुमुक्षु :- परन्तु मान लीजिये... गुरुदेवश्री के वचन लिये।

पूज्य भाईश्री :- हाँ किन्तु उसमें तो 'गुरुदेवश्री' की बात है न? वह शास्त्र हो गया। ऐसे लिया न? ऊपर क्या लिखा है? कि, 'पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन' ऐसा लिखा है। लिखा है कि नहीं? यह 'अनुभवप्रकाश' 'दीपचंदजी साधर्मिकृत। उनके निमित्त से हैं न? कोई अपने नाम पर चढ़ाएँ तब उसमें गड़बड़ी करता है। वह गड़बड़ी किये बिना रहता नहीं। उनके वचन निमित्त नहीं होते। इसतरह फर्क पड़ता है। क्योंकि ज्ञानी का विषय प्रतिपादन सांगोपांगरूपसे आता है। ज्ञानी के कथन में विषय आगे-पीछे संधियुक्त रहता है। जबकि नकल करनेवाले का गड़बड़ी के साथ सब आता है।

मुमुक्षु :- ... आत्मभाव दिखना मतलब?

पूज्य भाईश्री :- आत्मभाव उसमें प्रदर्शित होता है। ज्ञानी के वचनमें आत्मस्वभाव प्रदर्शित होता है। प्रगट प्रसिद्ध होता है। वह जिसे दिखता है उसे निमित्तभूत होता है। ऐसा है वास्तवमें। अज्ञानी के वक्तव्य में तो आत्मस्वभाव प्रगट ही नहीं होता है।

यहाँ चलते विषयमें 'सम्यग्दर्शन का लक्षण क्या कहा? कि भेदज्ञान की प्रविणता से आत्मज्ञान...' जिसने उत्पन्न किया है। राग से भिन्न होकर स्वरूपज्ञान, आत्मज्ञान जिसे प्राप्त है, प्रगट हुआ है और वह आत्मा के ज्ञान में जैसा जाना है, वैसा ही प्रतीति में आता है। ऐसा ही मैं हूँ। जैसा जाना वैसा ही हूँ ऐसा प्रतीति में आता है वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है। उसे सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते हैं। प्रतीतिभाव है उसे सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा गया है।

सम्यक् इतना सूक्ष्म है कि प्रतीति द्वारा उसे कहा जाता है। प्रतीति होती है कि ऐसा ही हूँ। निःशंक प्रतीति हुई, जैसा अनुभवगोचर हुआ वैसी ही निःशंक प्रतीति हुई कि जैसा ज्ञान में आया, अनुभव में आया, वैसा ही मैं हूँ ऐसी प्रतीति वर्तती है उसे सम्यक् श्रद्धान कहते हैं। श्रद्धान उदय में आया। श्रद्धान उदित होता है। ऐसा शब्द प्रयोग किया है। ऐसी प्रतीति जिसका लक्षण है वैसा श्रद्धान उदित होता है। ऐसा गाथा में मूल शब्द-भाषा ऐसी आयी है।

(गाथा १७-१८) सर्वप्रकार से भेदज्ञानमें प्रवीणतासे 'जो यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ' ऐसे आत्मज्ञान से...' ऐसे आत्मज्ञान द्वारा यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ, ऐसा जो आत्मज्ञान, इसके द्वारा 'इस आत्मा को जैसा जाना है वैसा ही है इसप्रकार की प्रतीति जिसका लक्षण है...' बस! इतना शास्त्रवचन है। जितने शब्द इस (समयसार गाथा-१७-१८ की टीका) में है। यह मूल शास्त्रवचन है कि 'आत्मा को जैसा जाना है वैसा ही है इसप्रकार की प्रतीति जिसका लक्षण है ऐसा...' जो लक्षण है 'ऐसा, श्रद्धान उदित होता है।' ज्ञान द्वारा ऐसा श्रद्धान उदित होता है। और ऐसा श्रद्धान उदित होता है 'तब समस्त अन्यभावों से, भेद होने से...' यानी कि भिन्नत्व होने से स्वरूप में 'निःशंक स्थिर होनेमें समर्थ होने से...' ऐसा लिया। फिर स्थिर होनेकी जो शक्ति आयी, उसके कारण '...आत्मा का आचरण उदय होता हुआ आत्मा को साधता

है।' उसे चारित्र कहते हैं। वह स्वरूपाचरण चारित्र है। अविरत नामक चतुर्थ गुणस्थान में वह स्वरूपाचरणचारित्र ऐसे नाम को प्राप्त होता है। उसे स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं।

मुमुक्षु :- जैसा जाना है वैसा ही। यानी कि पहले ज्ञान में लक्षमें आया था वह या फिर सम्यग्दर्शन के साथ जो सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है तब जो ज्ञानमें आता है वह ?

पूज्य भाईश्री :- वह सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न होता है। ऐसे बात लेनी। यहाँ जैसे बात लेनी है। जैसा ज्ञान में मतलब अनुभवमें, निर्विकल्प अनुभव में आया तब उसकी प्रतीति हुई। यहाँ आत्मज्ञान लेना है। वह भास्यमान हुआ ज्ञान नहीं लेना है परन्तु आत्मज्ञान लेना है। यानी कि अनुभवज्ञान लेना है। वह ज्ञान में जैसा मालूम हुआ वैसा ही मैं हूँ वैसी प्रतीति अंतर में उत्पन्न होती है, तब उसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है।

मुमुक्षु :- समयभेद नहीं है इसमें ?

पूज्य भाईश्री :- समयभेद नहीं है। एक ही समय में सभी गुण परिणामन करते हैं। इसमें ज्ञान के साथ दर्शन परिणामता है, उसी के साथ चारित्र परिणामता है, उसी काल में आनंद की उत्पत्ति है। सब एक ही काल में परिणामन करते हैं। फिर भी निमित्तत्व को देखकर कारण-कार्य का उपचार किया जाता है। परन्तु निमित्तत्व को देखते हुए। उसमें चारित्र का निमित्त यहाँ ज्ञान को लागू नहीं होता और श्रद्धान पर लागू नहीं होता। जैसे ज्ञान का निमित्त दर्शन पर लागू होता है किन्तु दर्शन का निमित्त ज्ञान को लागू नहीं होता। नहीं लगता। ऐसा उसमें निमित्तत्व है। वैसी विशिष्टता है। यहाँ जो मुद्दा चल रहा है वहाँ नहीं लागू होता। कहीं दूसरी जगह लागू होता है। फिर जो सम्यग्ज्ञान प्रवर्तता है वह श्रद्धानपूर्वक प्रवर्तता ज्ञान भले ही विषमव्याप्तियुक्त है। पर विषय में जाता है। शुभ विषयमें और अशुभ विषयमें। परन्तु सम्यक् श्रद्धानपूर्वक उत्पन्न जो ज्ञान है उस ज्ञान में श्रद्धान का निमित्त है। फिर ज्ञानमें दूसरी गड़बड़ी नहीं होती। भले ही शुभाशुभ

उपयोग हो।

मुमुक्षु :- चारित्र नाम स्थिरता होती है...

पूज्य भाईश्री :- हाँ, वह मुद्दा यहाँ नहीं लेना चाहते। यहाँ तो श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र में निमित्तभूत होते हैं। जबकि चारित्र ज्ञान में निमित्तभूत कब होता है? कि जब स्वरूप स्थिरता बढ़ने पर अंतर में ज्ञान विकसित होने लगता है। जैसे कि बारहवें गुणस्थान की स्वरूप स्थिरता, पूर्ण यथाख्यात चारित्र ऐसा है कि, केवलज्ञान में निमित्तभूत होती है। वहाँ ऐसा कह सकते हैं। इसतरह जहाँ जिसका निमित्तत्व लागू पड़ता हो वहाँ उसे लेना चाहिये। केवल रट ले तो काम नहीं आता। उनमें तो कहीं न कहीं वापिस गड़बड़ी हुए बिना रहेगी नहीं। वहाँ लागू पड़ता है। क्यों ऐसा ज्ञान हुआ ? इतनी स्वरूप स्थिरता हुई, इतनी स्वरूप स्थिरता हुई कि फिर अब स्थिरता छूटेगी नहीं। यथाख्यात चारित्र प्रगट हो गया फिर स्थिरता छूटनेका सवाल नहीं है। वहाँ पूर्ण स्थिरता हो गई है। फिर केवलज्ञान को रोक नहीं सकते। केवलज्ञान प्रगट होगा, होगा और होगा ही।

इसप्रकार 'ज्ञानमें पूर्णानंद अभेद-अखण्ड आत्मा का ज्ञान होने पर...' प्रत्यक्ष होने पर 'ज्ञान में पूर्णानंद अभेद-अखण्ड आत्मा...' प्रत्यक्ष होने पर 'जैसा आत्मा जाना वैसी ही प्रतीति होनेपर सम्यक्श्रद्धान प्रकाशित हो उठता है।' इस विषय में बहुत चर्चा चली है। ज्ञानपूर्वक श्रद्धान या श्रद्धानपूर्वक ज्ञान ? बहुत प्रश्न चले। 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' में से चले थे। 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' में एक ऐसा बोल है। धारणा करने में किसीको कोई कल्पना जब मिश्रित हो जाती है तब ऐसी तकलीफ पैदा हो जाती है। उसवक्त इसपर चर्चा चली थी।

'द्रव्यदृष्टिप्रकाश'में १४३ नंबरका बोल है। १४३। प्रश्न है। भूल हो जाये ऐसा ही प्रश्न उसमें है। 'त्रिकाली में प्रसरने में ज्ञान कारण है या दृष्टि कारण है?' अब प्रश्न क्या है? प्रसरना वह है, स्थिर होना इसका है। प्रसरना मतलब स्थिर होना। अब उसमें क्या मिला दिया ? उत्तर देंगे दृष्टि कारण है उतना। क्या मिला दिया उसमें ? कि दृष्टि

के कारण ज्ञान हुआ है। इतनी कल्पना हो गई। वरना प्रश्न तों यों चला था कि, त्रिकाली में प्रसरने में व्याप्य-व्यापकरूप से उपयोग हो जाये तो उपयोग प्रसर गया ऐसा कहने में आता है। यानी कि स्थिर हो गया। उसमें ज्ञान कारण है या दृष्टि कारण है? यह प्रश्न है।

उत्तर है कि, 'मुख्यतौर से तो (ज्ञानी को) दृष्टि ही कारण है, फिर ज्ञान को भी कहते हैं;...' कोई-कोई जगह ज्ञान को भी कहा जाता है। परन्तु मुख्यरूप से दृष्टि ही है। श्रद्धान का बल है। श्रद्धान का जोर है इसलिये स्थिर हो गया। परन्तु कोई-कोई जगह ज्ञान को कारण कहा जाता है। क्योंकि १७वीं गाथा में लिया न? कि वैसा श्रद्धान उदित होता है। ज्ञानपूर्वक श्रद्धान उदित होता है और ऐसा श्रद्धान-ज्ञान होनेपर निःशंक स्थिर होने में समर्थ होने से आचरण भी उदित होता है। तो वहाँ श्रद्धान-ज्ञान दो कारण है और चारित्र्य है वह कार्य है। तो यहाँपर दो बात ली। इसमें दर्शन की मुख्यता की। बल की अपेक्षा श्रद्धान की मुख्यता की।

'दोनों साथमें ही है' दर्शन व ज्ञान दोनों वहाँ साथ में ही है। 'दृष्टि प्रसर जाती है तो ज्ञान भी हो जाता है' प्रश्न है। 'दृष्टि तो जानती नहीं। ज्ञान ही जानता है?' उसी में आगे लिया है। १४३ बोल में ही पेटा प्रश्न है।

पूज्य भाईश्री :- 'इस अपेक्षा से (स्वलक्षी) ज्ञान को भी कारण कहते हैं।' दृष्टि अंधी है। ज्ञान तो देखता है। दृष्टि नाम यहाँ पर श्रद्धान। ज्ञान को कारण कहो तो उस अपेक्षा से ज्ञान को भी कारण कह सकते हैं। 'परन्तु यथार्थ में तो...' अब उधाड़ ज्ञान की बात लेते हैं कि, 'ऐसे ग्यारह अंगवाले को (परलक्ष्यी) ज्ञान तो हो जाता है, दृष्टि नहीं होती।' ग्यारह अंगवाले को तो ज्ञान है। आत्मा ऐसा है... आत्मा ऐसा है... आत्मा ऐसा है... नहीं जानता है क्या? कि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, गुण-गुणी भेद, उत्पाद-व्यय-ध्रुव। ग्यारह अंग में क्या बचा? 'इसीसे यथार्थ में तो दृष्टि को ही कारण

कहते हैं।' इसप्रकार श्रद्धान को मोक्षमार्ग में (कारण कहते हैं)।

तब दो-चार प्रश्न विवादास्पद हो गये जैसे ही यह प्रश्न विवादास्पद हो गया था। 'गुरुदेवश्री'ने बहुत खोल-खोलकर बात की है। फिर यह १७वीं गाथा का आधार दिया है। देखो! यहाँ ऐसा कहते हैं कि जैसा जाना है वैसा ही प्रतीति में आनेपर श्रद्धान होता है। इसके पहले श्रद्धान उदय हुआ ऐसा नहीं कहा जाता। जैसा प्रतीति में आया है वैसा ही ज्ञान होता है ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि जाने बिना का श्रद्धान खरगोश के सींग जैसा है। ऐसा तर्क दिया है।

आचार्य महाराजने वहाँ गाथा की टीका में स्वयं ने तर्क उठाया है कि जाने बिना का श्रद्धान कैसा है? कि खरगोश के सींग के बराबर है। जैसे खरगोश को सींग होता है ऐसा कोई नहीं जानता क्योंकि है ही नहीं तो जानने का प्रश्न अस्थान में है। शब्द है, शब्द का वाच्य है। यानी कि, खरगोश है, सींग है परन्तु खरगोश के सींग नहीं होते। ऐसा है। फिर खरगोश के सींग है ऐसी प्रतीति किसी को नहीं हो सकती। जाने तब तो प्रतीति होवे ऐसा कहना है। जाने बिना प्रतीति होना सम्भव नहीं है।

मुमुक्षु :- आप हाजिर थे?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, आगे हमलोगों की चर्चा तो बहुत होती थी। बाद में आगे प्रवाहित होती थी। बात बड़ारूप धारण करे, बहुत चर्चित होने लगे फिर 'गुरुदेवश्री' तक तो पहुँचती। बहुत चर्चा चली थी। घाटकोपर वाले काफी मुमुक्षु थे न! वे लोग 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' का स्वाध्याय बहुत करते थे इसमें से बात तो चली थी। फिर उनको मैंने कहा कि आप लोग आग्रह रखते हो परन्तु आप लोगोंने तो सोगानीजी के परोक्ष वचन पढ़े हैं। जबकि हमारा तो प्रत्यक्ष परिचय रहा था और काफी चर्चा हुई है तब। फिर एक गाथा 'पंचाध्यायी' की दिखायी थी। कि, इस गाथा पर चर्चा हुई थी। ज्ञान प्रसिद्ध एक कारण। स्वानुभूति एक हेतु 'प्रसिद्ध ज्ञानमेवैकं'

स्वानुभूति का हेतु इसलिये ज्ञान ही एक प्रसिद्ध कारण है। ज्ञान से साध्य की सिद्धि है वह कल लिया था न? 'सोगानीजी' को वह गाथा दिखायी थी। ऐसा ही है। बात तो वैसी ही है। इसमें तो दूसरी संभवितता ही कहाँ है? कथनशैली में भले ही बात न आती हो परन्तु इससे कोई अनुभव अन्यथा हो जाये ऐसा कभी नहीं बनता। ज्ञान की मुख्यता नहीं करते हैं, वे नहीं करते थे किन्तु यहाँ कहा है उसका क्या? तो कहा सो तो वैसे ही है। ऐसा कहा। गाथा पढ़ी और एक सेकन्ड अटक गये फिर कहा, कि अनादि अनन्त ज्ञानियों की यही परिस्थिति है। ऐसा कहा। इतना शब्द बढ़ाकर बोले। अनादिअनन्त तीनों काल के ज्ञानियोंको ऐसे ही ज्ञानप्राप्ति होती है। ज्ञान ही एक हेतु है। वहाँ ऐसा विषय चला है। पंचाध्यायी में ज्ञान को स्वानुभूति का हेतु लिया है।

'तस्मात्तत्परमं पदम्' ज्ञान को मुख्य करते हैं, क्यों? कि वहाँ 'अकेला' शब्द पड़ा है कि स्वानुभूति का हेतु होने से, कारण होने से ज्ञान ही एक परम पद है। 'तस्मात्तत्परमं पदम्' इतना शब्द प्रयोग है। ४०१ गाथा में भी ऐसा ही शब्दप्रयोग है। उतरार्ध। रखा है यहाँ पर कागज रखा है। ४०१ नंबर की गाथा है। ४०१ 'प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चित्तः' यह थोड़ी विशेष बात है। 'विधो चित्तः' ऐसा शब्द लिया है। विधिका विषय चलता है वहाँ पर। ऐसा स्पष्ट लिखा है। किस विधि से होता है? साधन की विधि का अगर विचार किया जाये, आत्मा के अनुभव के साधन की विधि की मीमांसा की जाये। गहरी विचारणा की जाये तो 'प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनं' 'स्वानुभूतेकहेतुश्च' एक स्वानुभूति का हेतु होनेसे 'तस्मात्तत्परमं पदम्' इसलिये उसे परमपद कहा जाता है। इतनी महिमा की है। अतः ज्ञान ही परमपद है।

अनुभव अनिर्वचनीय होने से ज्ञान नामक गुण ही आत्मा की सिद्धि आदिमें अथवा स्वानुभूतिमें हेतुरूप होता है इसीलिये ज्ञान ही परमपद है। यह इसका अर्थ किया है। ४०१ गाथा। उतरार्ध की

४०१ हँ! पूर्वार्ध में ७००-८०० गाथाएँ हैं। योगानुयोग इस गाथा पर 'सोगानीजी' के साथ चर्चा हुई थी। आपकी शैलीमें यह बात नहीं आती है तो पक्षपात क्यों करते हो? आनंद का विशेष मस्तीयुक्त प्रकार था। दृष्टि की प्रधानतासे व आनंद की प्रधानता से कथन आते थे। ज्ञानकी प्रधानतासे बहुत ही कम बात आती थी। कोई तो तर्क करते थे कि 'गुरुदेवश्री' तो ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... करते हैं। आप तो 'ज्ञायक' ऐसा कुछ बोलते ही नहीं हो। है क्या? सो तो सबकी अपनी-अपनी शैली होती है।

फिर यह गाथा दिखायी थी। कारणमें तो ज्ञान पड़ता है ऐसा 'पंचाध्यायी'में कहा है। श्लोक पढ़ा, अर्थ पढ़ा, एख ही सेकन्ड में ऐसा कहा कि, अनादि अनन्त किसी भी ज्ञानी को ऐसा ही होता है, अन्यथा किसी भी ज्ञानी को नहीं होता। ज्ञान से ही मोक्षमार्ग में प्रवेश करता है। और उन्होंने भी सुना तो वही है न। 'गुरुदेवश्री' के पास सर्वप्रथम जो सुना सो तो यही सुना है। क्या सुना है? राग और ज्ञान भिन्न है। ऐसा सुना है। ज्ञान और राग भिन्न है। भेदज्ञान का विषय मिला। विधि जो है वह प्राप्त हुई है। वह कहा तो सही परन्तु आम लोग जल्दी से माने नहीं और कहा यह प्रत्यक्ष बात हुई है। फिर कहेंगे तो सही न कि, यहाँ १४३ में आप ही ने छपवाया है न! हमने जब छपवाया है इसका मतलब कि हम सोच-समझकर कहते हैं।

ऐसा श्रद्धान दिखता है। ऐसी ज्ञानपूर्वक निर्विकल्प अनुभव में प्रतीति उत्पन्न हो जाती है उसे वहाँ सम्यग्दर्शन कहनेमें आता है अथवा सम्यक्श्रद्धान कहनेमें आता है। ३५१ बोल पूरा हुआ।

मुमुक्षु :- अब इसी बोल को तिर्यच के लिये लागू करें तो-

पूज्य भाईश्री :- अनादि अनन्त सर्व साधक का यही प्रकार होता है। किसी की विधि एक तो किसी की दूसरी (ऐसा नहीं होता)। 'एक होय त्रण काळमां परमारथनो पंथ' मार्ग की विधि में कोई अंतर नहीं होता। चारों गति के जीव; सातवीं

नारकी का नारकी ले लो, देवलोक को देव ले लो, संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच ले लो या मनुष्य ले लो (इसमें) कोई अंतर नहीं पड़ता। क्षयोपशम द्वारा हुई जानकारी साधक होनी चाहिये, बाधक नहीं होनी चाहिये। मनुष्य पर्याय में अनेक शास्त्रों द्वारा जानकारी मिलती है, परन्तु वह आपको आत्मज्ञानमें साधक होनी चाहिये बजाय इसके तर्क-वितर्क में आकर समझ में विक्षेप खड़ा हो जाये, आत्मा को साधने में क्षोभ उत्पन्न होवे और विक्षेप खड़ा हो जाये। ऐसा विक्षेप उत्पन्न हो जाने का कारण भावना की क्षति है।

‘श्रीमद्जी’ की भाषा में कहे तो सत्पुरुष के प्रति भक्ति में क्षति है। मल और विक्षेप की दो बात ली हैं। जिसमें मल है वह परिणाम की मलिनता है और विक्षेप है वह क्षोभ के परिणाम हैं। मुमुक्षु के जीवनमें ऐसा विक्षेप क्यों खड़ा होता है? क्योंकि उसे जानने को मिलता है। आत्मा ऐसा है... आत्मा ऐसा है... आत्मा ऐसा है। सत्शास्त्रों के माध्यम से जानता है, सत्पुरुष द्वारा जानता है, प्रत्यक्ष सत्पुरुष द्वारा जानता है फिर भी वह क्यों वहाँ तक पहुँच नहीं सकता है? कि जीव को उसमें विक्षेप है। इस कार्य को करने में कितने ही विक्षेप पैदा हो जाते हैं। ऐसे विक्षेप को मिटने का कारण सत्पुरुष की भक्ति है। ऐसा विषय लिया है।

मुमुक्षु :- विक्षेप मिटने का कारण?

पूज्य भाईश्री :- सत्पुरुष की भक्ति है। उन्होंने ऐसा विषय लिया है। अलग-अलग जगह पर उन्होंने बहुत सूक्ष्म बातें की हैं। ध्यान खींचने योग्य बातें हैं। ध्यान खींचना चाहिये ऐसी बातें की हैं। पीछे है। सब अपनी-अपनी भाषा में बात करते हैं। ४४९, २६ वाँ वर्ष है पत्रांक ४४९ (‘श्रीमद् राजचंद्र’ ग्रंथसे)

‘कल्याण में प्रतिबंधरूप जो-जो कारण हैं, उनका जीवको वारंवार विचार करना योग्य है,...’ शैली कैसी है! आत्म ‘कल्याणमें प्रतिबंधरूप जो जो कारण है; उनका जीवको वारंवार विचार करना योग्य है; उन उन कारणों का वारंवार विचार करके उन्हें दूर करना योग्य है;...’ कैसी

शैली है। विचार करना मतलब कि वारंवार विचार करके मिटाना चाहिये। ‘और इस मार्ग का अनुसरण किये बिना कल्याण की प्राप्ति नहीं होती। मल, विक्षेप और अज्ञान ये जीवके अनादि के तीन दोष है।’ मल, विक्षेप और अज्ञान। जिसमें से विक्षेप के सामने बात लेंगे।

‘ज्ञानीपुरुषों के वचनों की प्राप्ति होनेपर, उनका यथायोग्य विचार होनेपर, उनका यथायोग्य विचार होने से अज्ञान की निवृत्ति होती है। उस अज्ञान की संतति बलवान होने से रोध होने के लिये...’ अज्ञान मिटाने के लिये ‘और ज्ञानीपुरुषों के वचनों का यथायोग्य विचार होने के लिये मल और विक्षेप को दूर करना योग्य है।’ क्या कहना है? कि, ज्ञानीपुरुषों के वचन तुझे मिले, परन्तु उन पर तुझे यथायोग्य विचार क्यों नहीं चलता? कि मल और विक्षेप बाधक होते हैं। अज्ञान मिटाने के लिये ज्ञान होना चाहिये। ज्ञान होने के लिये ज्ञानी के वचन मिले, फिर भी इसपर यथायोग्य विचार नहीं होने का क्या कारण है? कि मल और विक्षेप बाधारूप होते हैं।

‘विचार होनेके लिये मल और विक्षेप को दूर करना योग्य है। सरलता, क्षमा, अपने दोष देखना, अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह इत्यादि मल मिटने के साधन हैं।’ मल अर्थात् परभाव का, संयोगादि का तीव्र रस वह मल है। उस ओर का तीव्र रस है सो मल है। इसलिये इसमें इतना लिया। ‘सरलता क्षमा, अपने दोष देखना, अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह इत्यादि मल मिटने के साधन हैं। ज्ञानीपुरुष की अत्यंत भक्ति विक्षेप मिटने का कारण साधन है।’-यह एक वाक्य लिया है। ज्ञानीपुरुष की भक्ति है वह विक्षेप मिटने का साधन है ऐसा नहीं कहा परन्तु ज्ञानीपुरुष की अत्यंत भक्ति है वह विक्षेप मिटने में साधन बताया। इसप्रकार दो प्रकार से मल और विक्षेप मिटे तो ज्ञानीपुरुषों के वचनों का यथायोग्य विचार होकर उसरूप परिणमन हो। ऐसे लेना है। दाखिला सिखायें वैसे यह बात को साबित की है, कि जीव के परिणाम

में तीन प्रकार के जो दोष हैं, उसमें इसप्रकार मल, विक्षेप मिटाकर उसे ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिये।

‘अब ऐसा निश्चय करना योग्य है कि जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है, प्रगट है, उस पुरुष के बिना अन्य कोई उस आत्मस्वरूप को यथार्थ कहने योग्य नहीं है;...’ अरूपी ऐसा आत्मा, इन्द्रियज्ञान से जानने में न आये ऐसा आत्मा, जाना नहीं यह कहाँ से कहेंगे? कैसे कहे? वह बात ही सुसंगत नहीं है। वह समर्थ नहीं है। ‘और उस पुरुष से आत्मा जाने बिना अन्य कोई कल्याण का उपाय नहीं है।’ तीनकाल, तीनलोक में ‘और उस पुरुष से आत्मा जाने बिना, आत्मा जाना है ऐसी कल्पना का मुमुक्षु जीव को सर्वथा त्याग करना चाहिये।’ छोड़ देनी चाहिये ऐसा कहते हैं। ‘उस आत्मारूप पुरुष के सत्संग की निरंतर कामना रखकर उदासीनता से लोकधर्म संबंधी और कर्मसंबंधी परिणाम से...’ जगत के कार्य जितने भी उदयमान हो, उदासीनतारूपसे उस ‘परिणाम से छूटा जा सके इस प्रकार से व्यवहार करना।’ छूटने का ध्येय रखना। करने का नहीं परन्तु छूटनेका। ‘जिस व्यवहार के करने में जीवको अपनी महत्तादि की इच्छा हो वह व्यवहार करना यथायोग्य नहीं हैं।’ थोड़ी-सी प्रशंसा मिले ऐसी कोई भी व्यवहार की बात आये तो हट जाना। प्रशंसा नहीं चाहिये। ऐसी कई बातों की हैं।

मुमुक्षु :- विक्षेप का अर्थ क्या?

पूज्य भाईश्री :- विक्षेप नाम बाधा। सरल भाषामें नहीं कहते, भाई! यह एक काम करना है इसमें आप बिचमें विक्षेप क्या डालते हो? विक्षेप क्यों डालते हो? दखल करना, Disturb कर देना। आत्मा सम्बन्धित जानकारी होती है, आत्मज्ञानी पुरुषों के पास से जानकारी होती है, फिर भी उसपर यथायोग्य विचारपूर्वक इसमें आगे बढ़कर क्यों उस आत्मज्ञान तक नहीं पहुँचा जा सकता है? क्योंकि बीचमें एक विक्षेप है। उस विक्षेप मिटाने का यह साधन है। ऐसा लिया है। यह बहुत रहस्यमय विषय

है। अंतर रहस्य का यह विषय है। जीव के परिणामन में सर्वांग तैयारी होती है तब वह सम्यक् तक पहुँचता है। यूँ ही सम्यक् तक कोई नहीं पहुँचता।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- विक्षेप है यह थोड़ा भावना का विक्षेप है। भावना की क्षति है उसका विक्षेप है। इसमें क्या है सम्यग्दर्शन जो ले, तो आत्मा का अत्यंत-अत्यंत आत्मभावका भावविभोरपना है उसमें ऐसा परिणामन है। निर्विकल्प परिणामन है न? सर्व जगह से मन का सूक्ष्म विकल्प भी जहाँ मिटता है तब निर्विकल्प स्वरूप का भावविभोरपना कितनी मात्रा में आता होगा, इसकी तारतम्यता कितनी बढ़ती होगी, कितना वह उसमें भावान्वित होता होगा! यह गहराई में उतरकर नक्की करने जैसा विषय है। इसमें जो भावना की विशिष्टता है, आत्मभाव संबंधित भावना की जो विशिष्टता है, उसकी जो क्षति है वह विक्षेप है। यह क्षति है वह विक्षेप है। ऐसा है।

मुमुक्षु :- हम अभी भावना में नहीं आते...

पूज्य भाईश्री :- इसलिये यह बहुत सरल रास्ता बताया है कि, मूर्तिमंत आत्मज्ञानस्वरूप है, मूर्तिमंत आत्मदर्शनस्वरूप है। जो चीज तुझे चाहिये उसकी मूर्ति तेरे सामने है। इसके प्रति अत्यंत-अत्यंत भक्ति तेरे विक्षेप को दूर करेगी। दूसरा कोई प्रयत्न करने की तुझे जरूरत नहीं है ऐसा लेना है। एकदम सरल उपाय दिखाया है।

मुमुक्षु :- मल के प्रकार भी जिसको ज्ञानी के प्रति अत्यंत भक्ति प्रगट होती है उसके मल के प्रकार भी निकल ही जाते हैं।

पूज्य भाईश्री :- उसका मल मंद हो जाता है, उसका मल भी मंद पड जाता है। परन्तु यहाँ दो साधन लिये। दो भेद करके दो बात की है। क्योंकि मल की उत्पत्ति के अनेक कारण हैं। जो तीव्र रस है वह रस बहुत मलिन वस्तु है। जो पररस है, तीव्र पररस है उसमें रस का जो वृद्धिगतपना है, रस की जो तीव्रता है वही मलिनता है ऐसे। इसलिये इतने सारे बोल साथ में लिये हैं।

परमात्मा फरमाते हैं कि प्रभु ! तेरे ज्ञानकी पर्यायमें सदैव स्वयं आत्मा स्वयं ही अनुभवमें आता है । ज्ञानकी प्रकट दशामें सर्वको भगवान आत्मा अनुभवमें आता है ।

“अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा” अनुभवमें आने पर भी तू उसे नहीं देखता । क्यों ? - इसलिए कि पर्यायबुद्धिके वश हो जानेसे पर-द्रव्योंके साथ एकत्वबुद्धिके कारण स्व द्रव्यको नहीं देख सकता । ३५२

३५२। ‘परमात्मा फरमाते हैं...’ मैं कहता हूँ... मैं कहता हूँ - ऐसा कहीं पर भी नहीं आता। आप ‘गुरुदेवश्री’ की शैली देख लीजियेगा। ‘मैं कहता हूँ’ ऐसा कभी भी नहीं कहते। आचार्य ऐसा कहते हैं भगवान ऐसा फरमाते हैं, परमात्मा ऐसा फरमाते हैं। शैली ही ऐसी आती है। ‘परमात्मा फरमाते हैं कि प्रभु ! तेरे ज्ञान की पर्याय में सदैव स्वयं आत्मा स्वयं ही अनुभव में आता है।’ समयसारजी की छठवीं गाथा के प्रवचन में एक बात आयी थी कि, भाई ! अनादि से तुझे तेरा ज्ञान ही मालूम हो रहा है, तेरा ज्ञान ही तुझे अनुभव में आ रहा है। परको तुने जाना ही नहीं है। ऐसी बात करते हैं। वहाँ क्या लेना है कि परप्रकाशकत्व का निषेध नहीं है। परन्तु परसन्मुख होकर परका आश्रय करता है उसका निषेध है। क्या है कि, परप्रकाशक तो स्वभाव है और स्वप्रकाशक तो स्वभाव है। स्व-परप्रकाशक तो एक साथ स्वभाव है। परन्तु स्व को जानने का अनुभव करने का भूला हुआ होने से ‘मोतने बाझे तो ताव आवे’ ... यहाँ ऐसी शैली है कि, एकबार तू भूल जा कि मैं पर को जानता हूँ, मैंने पर को जाना है तू एकबार भूल जा। ऐसा कहने के लिये यह बात है। तो यहाँपर भी इस गाथा में भी एक न्याय से शैली ऐसी आयी है।

‘परमात्मा फरमाते हैं कि प्रभु ! तेरे ज्ञान की पर्याय में सदैव स्वयं आत्मा स्वयं ही अनुभव में आता है।’ आबालगोपाल को अनुभूति स्वरूप भगवानआत्मा अनुभव में आ रहा है। और तो और ज्ञान की पर्याय भी नहीं ली। आत्मा अनुभव में आ रहा है। यह आत्मा कैसा ? हमें तो पता ही

नहीं है, ऐसा कहते हैं। और आत्मा के अनुभव में तर्क बहुत उठते हैं। शास्त्रों को पढ़ा हो फिर बहुत तर्क करते हैं कि आत्मा अनुभव में आये तो हम तो अभीतक ऐसा समझते थे कि, जिसको आत्मा अनुभव में आये उसे आनंद का अनुभव होता है। हमें तो आनंद का अनुभव हुआ नहीं है इसलिये आत्मा अनुभव में नहीं आया है। परन्तु क्या तुझे आचार्य के वचन को झूठा ठहराना है ? तुझे करना क्या है ? हेतु क्या है तुम्हारा ?

भाई ! वहाँ वे कुछ और कहना चाहते हैं। आचार्यदेव यों नहीं कहना चाहते हैं कि तुझे निर्विकल्प शुद्धोपयोग प्रगट हो गया है फिर भी तुझे पता नहीं है, ऐसा वे कहना नहीं चाहते। वे तो कहते हैं कि तेरा जो ज्ञान है उस ज्ञान में अनुभव निहित है। और ज्ञान में जो ज्ञान का अनुभव है उसपर तेरा ध्यान नहीं है, तेरा लक्ष नहीं है। तेरा लक्ष राग पर है और ज्ञेयाकार पर तेरा लक्ष है, बस ! इसलिये तुझे अंदर में ज्ञान अनुभव में आ रहा है इसका ख्याल ही नहीं आता है। ऐसा तेरा ध्यान खींचते हैं। लक्ष पलटने की बात है।

‘परमात्मा फरमाते हैं कि प्रभु !’ देखो ! प्रभु कहते हैं। अज्ञानी को भी प्रभु कहते हैं कि ‘तेरे ज्ञान की पर्याय में सदैव स्वयं आत्मा स्वयं ही अनुभव में आता है।’ इसमें प्रगट ऐसे जो स्वभाव का प्रकाशन है, ज्ञान में रटा जो प्रगट प्रसिद्ध स्वभाव है वह आत्मा है। स्वभाव है वह आत्मा है और आत्मा है वह स्वभावमात्र है। वस्तु है वह स्वभावमात्र है। आगे कर्ता-कर्म अधिकारमें यह विषय चला है कि, वस्तु है सो स्वभावमात्र है और स्व का अनुभवन है वह स्वभाव है। स्व का अनुभवन

है सो स्वभाव है। 'समयसार' में बहुत स्पष्टरूप से ऐसी व्याख्या की है। ६८, ६९ के बाद ७०-७१ गाथा का यह विषय है।

७१वीं गाथा की टीका की प्रथम पंक्ति है। 'इस जगत में वस्तु है वह (अपने) स्वभावमात्र ही है,...' क्या लिखा है? इस जगत में 'वस्तु है वह (अपने) स्वभावमात्र ही है,...' वस्तु माने क्या? कि स्वभावमात्रपना वह वस्तु और स्वभावमात्र सो वस्तु का स्वरूप। 'और 'स्व'का भवन (होना) वह स्वभाव है' ऐसी व्याख्या की है। और स्व का भवन ही स्वभाव है। 'इसलिये निश्चय से ज्ञानका होना...' आत्मवस्तु के प्रकरणमें 'निश्चय से ज्ञान का होना-परिणमना सो आत्मा है।'

'और ऐसे ज्ञानका अनुभव होनेमें आत्मा का अनुभव होना है ऐसा कहनेमें आता है। यह १७-१८ गाथा की संधि ले ली।' ७१वीं गाथा के साथ १७-१८ वीं गाथा की संधि कर दी। अंक तो वही के वही है। आगे-पीछे का फर्क है। १७ में १ और ७ है जबकि इसमें ७ और १ है। परन्तु विषयमें संधि है, देखिये! 'इसलिये निश्चयसे ज्ञानका होना-परिणमना सो आत्मा है और क्रोधादिका होना-परिणमना सो क्रोधादि है।' इसलिये आत्मा नहीं है। उसे आत्मा नहीं कहते।

वैसे यहाँ जो ज्ञान को ज्ञान का अनुभव है, उसे यहाँ आत्मा का अनुभव ऐसा कहनेमें आता है। फिर, १५वीं गाथामें सूक्ष्मता ली कि, ज्ञान के तो दो भेद हैं। ज्ञानके अनुभव में दो भेद हैं। एकतो ज्ञान ज्ञेयाकार ज्ञान है। वही ज्ञान की पर्याय सामान्य भी है इसलिये ज्ञेयाकार रहित भी है। एक ज्ञान की पर्याय में सूक्ष्मता से देखा जाये तो सामान्य-विशेषत्व, देखा जाता है कि, ज्ञान ज्ञानसामान्य भी है और उसी काल में ज्ञान ज्ञानविशेष भी है। जिस काल में ज्ञान ज्ञानविशेष है उस ही काल में ज्ञान ज्ञानसामान्यरूप भी है। दर्पण की पर्याय की माफिक। दर्पण में प्रतिबिंब रहित पर्याय को ले तो सामान्य है। उसमें सामने आया कोई भी आकार जब उत्पन्न हो तब भी वहाँ आकारयुक्त पर्याय भी है और

निराकारपर्याय भी वहाँ है। है कि नहीं है? वहाँ दोनों हैं।

तो ऐसा कहते हैं कि, तू ज्ञानविशेष का आविर्भाव कर रहा है उसे छोड़ दे, बस! और ज्ञानसामान्य को आविर्भूत कर। आविर्भाव कर मतलब तू भावान्वित हो जा। ज्ञेयाकारज्ञान में तू भावान्वित होता है तब ज्ञेयाकार का सम्बन्ध ज्ञेय के साथ रहा होने से तू ज्ञेयलुब्ध हो जाता है। तुझे ज्ञेय में आसक्ति होती है और इसलिये अनेकविध प्रकार से विकार की उत्पत्ति हो जाती है। यह इसका मूल है। विकार की उत्पत्ति का यह मूल है। इसलिये ऐसा कहते हैं कि उस ही ज्ञान में जो निहित जो ज्ञानसामान्य उसका आविर्भाव कर। ज्ञेयाकार ज्ञान तिरोभूत हो जायेगा।

ज्ञानमें से अन्य ज्ञेयों को तू दूर नहीं कर सकेगा, क्योंकि सो तो तेरा परप्रकाशत्वपना है। ज्ञान का पूरा स्वच्छत्व गुण है। स्वच्छत्व इसका रूप है। ११वीं स्वच्छत्व शक्ति है। उसका लक्षण ही ऐसा लिया है कि, उपयोग में अनेक ज्ञेयाकारपना हो। मेचक आकार ऐसा शब्द इस्तेमाल किया है। वह स्वच्छत्वशक्ति का लक्षण है ऐसा लिया है।

अतः अगर ज्ञान में यदि अनेक ज्ञेयों की आकृति उत्पन्न होने का निषेध किया जाये तो स्वच्छत्वगुण का ही निषेध हो जायेगा, शक्ति का नाश हो जायेगा। जो कि कतई सम्भव नहीं है। इतनी बात अवश्य है कि, अनेक ज्ञेयों को जानते हुए भी उन ज्ञेयों का तुझे असर न हो ऐसी एक ज्ञानकला ज्ञान में उत्पन्न हो सकती है, प्रगट हो सकती है। और वह यही है कि, तू ज्ञानसामान्य का आविर्भाव कर। भले ही अनेक ज्ञेयों का जानना होता हो। तुझे अनुभव यों होगा कि, उन ज्ञेयों से मेरा ज्ञान सर्वथा भिन्न है। मेरे ज्ञान में उन ज्ञेयों को लेकर कोई असर नहीं पहुँचता है। बस! तुझे अपने में विकार की उत्पत्ति का कोई कारण फिर नहीं बचता है।

पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से कुछएक वचनामृत

अगस्त - १९८५

उच्च स्तरके व्यवहारिक परिणामनके प्रति भी उदास भावसे रहना योग्य है । अन्यथा उसका रस आये बिना रहेगा नहीं । व्यवहारकी मिठासका वेदन करनेवाला मिथ्यादृष्टि है - यह मिठास जहर है । आनंद-अमृत स्वरूप आत्माकी मुख्यता- महिमा होनेमें / आनेमें अपूर्णता-व्यवहार सहज ही गौण हो जाता है । (५७)



स्वरूप ध्यानी कैसे होते हैं ? कि जिसको वस्तुका (१) यथार्थ स्वरूपज्ञान होता है। (२) जो सहज वैरागी होते हैं - अर्थात् दुःख लगनेसे रागसे विरक्त होते हैं । (३) इन्द्रिय-मन जिनके वशमें होता है । (४) अचंचल चित्त / उपयोगवाले होते हैं। (५) प्रमाद रहित होते हैं । (६) धैर्यवान होते हैं। (७) मुक्तिके इच्छुक अर्थात् उद्यमी होते हैं। (८) स्वभावकी जिनको अतिशय महिमा होती है। (९) जनपदका त्याग करके साधनामें मग्न रहते हैं। (५८)

प्रश्न :- (१) प्रज्ञाछेनी अंतरमें पटकनेके लिए ज्ञान और रागकी सूक्ष्म संधि कब अर्थात् कैसी भावभूमिकामें ज्ञात हो ? (२) किस प्रकारसे प्रज्ञाछेनी कार्य करती है ? (३) प्रज्ञाछेनीका स्वरूप क्या है ?

समाधान :- (१) 'स्वभावमें ही रस लगे' और अन्य सर्व नीरस लगे, तब ही अंतरकी सूक्ष्म संधि ज्ञात होती है। अर्थात् जब स्वभावका रस उत्पन्न होता है तब ही विभाव व स्वभावके बीचका भेद / भिन्नत्व ज्ञात होता है। परन्तु ऐसा नहीं बनता कि परमें तीव्र रुचि / रस हो और उपयोग अंतरमें प्रज्ञाछेनीका कार्य करने लगे। यह वैज्ञानिक परिस्थिति है जो प्रत्यक्ष प्रयोगसे/अनुभवसे समझमें आये ऐसा है । (बहिनश्रीके वचनामृत - १९७) (२) ज्ञान और राग साथ-साथ (एक समयमें) होने पर भी स्वभाव भेद मालूम होने पर वे भिन्न ज्ञात होते हैं । स्वभाव-विभावका भेद स्व-को (वेदनसे) ग्रहण करने पर जाननेमें आता है - इसके अलावा जाननेमें नहीं आता। निजमें निजको अवलोकनमें लेनेसे उपयोग शुद्ध होता है । इस वचनके अनुसार निज वेदनके अवलोकनसे - वेदनका माने सामान्य ज्ञानका आविर्भाव होकर प्रगट स्व-संवेदन रस उत्पन्न होता है ।

(३) प्रज्ञाछेनीका स्वरूप :- जो ज्ञान सूक्ष्म होकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म त्रिकाली ध्रुव स्वभावका ग्रहण करे वह प्रज्ञाछेनी है । अर्थात् अंतर्मुख होनेवाली ज्ञानकी पर्याय प्रज्ञाछेनीका कार्य करती है । (५९)



सितम्बर - १९८५

दृष्टि स्वरूपकी होने पर, दृष्टिका जोर और ज्ञानमें अभिप्रायका (ज्ञानका) बल ऐसा रहता है कि 'मैं तो सदा पूर्ण वीतराग स्वरूप हूँ' उस वक्त भी उत्पन्न होनेवाले रागादि उदयभाव ज्ञानमें भिन्न ज्ञात तो होते हैं परन्तु वे अपने पूर्ण वीतराग स्वरूपसे विरुद्ध जातिके भासित होते हैं । और उसके उत्पन्न होनेमें मेरा कर्तृत्वका भाव / कर्तापना, करवानेका भाव या अनुमोदन - कुछ भी नहीं है । क्योंकि उन-उन भावोंके होनेके समय भी मैं तो प्रत्यक्षरूपसे जैसा हूँ वैसा ही पूर्ण वीतराग रहता हूँ - थोड़ा भी इन भावोंके साथ मिल नहीं जाता। (६०)



परप्रवेशभाव जो है वह परमें निजका अवलोकन (अहंभाव) अर्थात् अनुभव है । जो निजावलोकन होने नहीं देता । ज्ञानमें/स्वमें निजका अवलोकन - वेदन होनेसे उपयोग शुद्ध होता है ।

परमें / अनुकूलतामें; सुखबुद्धि/अनुभव वही परका स्व-पनेसे ग्रहण व पररस उत्पन्न होनेका मूल है। वही स्वभावका घातक भाव है - जहर है; जो कि भ्रांतिसे मीठा लगता है । कल्पनासे दुःखमें मीठासकी कल्पना की है (६१)

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-३ पर)

द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से दृष्टि के परिणामन और दृष्टि के विषय पर पूज्य श्री सोगानीजी के वचनमृत



दृष्टि के विषय की हर समय मुख्यता रहनी चाहिए। (दूसरी) चाहे जितनी बात आओ, लेकिन उसकी (दृष्टि के विषय की) गौणता नहीं होनी चाहिए। २९५.



पूरे 'समयसारजी' में छठी गाथा में सम्यग्दर्शन का खास विषय आगया है। छठी गाथा में सबसे उत्कृष्ट बात आगयी है। 'मैं प्रमत्त भी नहीं, अप्रमत्त भी नहीं,' कौनसी पर्याय बाकी रही? २९६.



आत्मा तो गंभीर है; समुद्र की माफिक अनंत शक्तियाँ अपने में संग्रह करके बैठा है; इसकी दृष्टि होते ही ज्ञान में भी गंभीरता और विवेक आता ही है। ३०६.



'मैं' तो विकल्प से शून्य हूँ और मेरे भावों से 'मैं' भरपूर हूँ। ३१३.



(द्रव्य -) दृष्टि तो अस्थिरता और स्थिरता दोनों की ही नहीं कबूलती है। ३६०.



'दृष्टि' ऐसी प्रधान चीज है कि स्वभाव में दृष्टि जमते ही (सब) परिणाम खिलने लगते हैं। ("दंसणमूलोधम्मो।" जैसे मूल में पानी सिंचन से वृक्ष पनपता है, वैसे।) ३६८.



परिणाम से भी ऊँडा, सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्त्व जो है सो 'मैं' हूँ। ३७०.



सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको सदा 'त्रिकाली आत्मा हूँ' ऐसा ही मानते हैं। 'मैं ध्रुव सिद्ध हूँ' - जिसमें सिद्ध-दशाकी भी गौणता रहती है; सिद्ध-दशाका भी प्रति समय उत्पाद-व्यय होता है; 'मैं तो सदा ध्रुव हूँ'। ३७३.



'मैं त्रिकाली स्वभाव कभी बंधा ही नहीं हूँ' तो फिर 'मुझे' मुक्त कहना तो गाली है। पर्याय को मुक्त कहो वह तो ठीक है, क्योंकि वह बंधी हुई थी। परंतु 'मुझे' तो मुक्त कहना भी ठीक नहीं है। ३७५.



दृष्टि का नशा चढ़ जाए तो बारंबार अंतर में ही वलण होता है बाहर में कुछ रुचता ही नहीं। ४०६.



प्रश्न :- तो क्या नशे की माफिक दृष्टि का स्वरूप है ? अन्य कुछ देखती ही नहीं।

उत्तर :- हाँ ! दृष्टि का नशा ही ऐसा है, अन्य कुछ देखती ही नहीं; एक अपनी ओर (स्वरूप की ओर) ही दौड़ती है। इसीलिए तो कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को बाहर में, चर्चा आदि में रुकना ही नहीं, वह तो अंदर ही अंदर जाना चाहता है। ४०७.



पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा



प्रश्न :- वचनामृतमें आता है कि कार्योकी गिनती करने जैसी नहीं है; तथापि परिणामोंमें कार्योकी गिनती हो जाती हो वहाँ कारण क्या बनता होगा? उससे बचनेके लिये प्रयोगात्मक रीतिसे क्या करना?

समाधान :- कार्योकी गिनती न करके आत्माको मुख्य रखना। बाह्यमें उस प्रकारका राग होनेसे कार्योकी गिनती होती है; उसके लिये तो एक आत्माकी ही लगन लगाये तो दूसरोकी महिमा छूट जाती है। कार्योकी क्या महिमा है? मेरे लिये तो आत्मा ही सर्वस्व है और आत्मामें ही सर्वस्व है। ऐसे आत्माको मुख्य रखे और उसकी महिमा आये त अन्य सब गौण हो जाता है, किसी प्रकारकी गिनती नहीं रहती। जिसे आत्माकी ही महिमा, लगन है, तथा उस ओरका सर्वस्व रहता है उसे ऐसी गिनती नहीं होती कि मैंने इतना किया फिर भी कुछ होता नहीं, मैंने इतने विचार किये, इतना पढ़ा, इतनी स्वाध्याय-भक्ति करता हूँ फिर भी कुछ नहीं होता; परन्तु उसे आत्मा ही मुख्य रहता है कि मुझे आत्मा ही सर्वस्व है। बाहरसे जो यह सब होता है उसकी अपेक्षा अंतरमें भेदज्ञानकी धारा प्रगट करूँ, ज्ञायकको ग्रहण करूँ, उसमें लीनता कैसे हो, उसीपर उसकी दृष्टि होती है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३२१)



प्रश्न :- देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा क्या आत्माकी महिमाके लिये है?

समाधान :- जिनेन्द्रदेवने आत्मा प्रगट किया है, और केवलज्ञानमें पूर्णरूपसे बिराज रहे हैं। गुरु साधनाकरते हैं और शास्त्रोंमें भी वह सब आता है। उन्होंने चैतन्य का स्वरूप प्रगट किया है, और अपनेको उस स्वरूपकी रुचि है, इसलिये उनकी महिमा आती है। वह रुचि ऐसी होनी चाहिये कि वह स्वरूप मुझे प्रगट हो। मात्र रुढिगत महिमा आये ऐसा नहीं, किन्तु उन्होंने जो प्रगट की वह आदरणीय अनुपम वस्तु मुझे चाहिये ऐसी रुचि होनी चाहिये। इसलिये आत्माकी रुचि और देव-शास्त्र-गुरुकी महिमा दोनों परस्पर मिले होते हैं। जिसे समझपूर्वक महिमा आये उसे आत्माकी रुचि साथ ही होती है। कोई बिना समझे करता हो वैसे नहीं; समझपूर्वक महिमा आये उसमें रुचि साथ होती ही है कियह स्वरूप मुझे चाहिये! विभाव अच्छा नहीं है, किन्तु स्वभाव अच्छा है। देव-शास्त्र-गुरुने जो प्रगट किया उसकी महिमा आती है। और वह मुझे चाहिये ऐसी रुचि साथ होती ही है।

देव-शास्त्र-गुरु आदरणीय क्यों हैं? कि उन्होंने आत्मस्वरूप प्रगट किया है वह कोई अपूर्व है, इसलिये उनका अपनेको आदर है। उसमें अपने आत्माका आदर अंतरमें आ जाता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३२२)



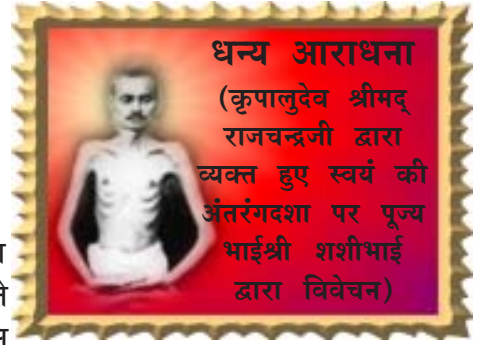
ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (फरवरी-२०१३) का शुल्क श्री टोकरशीभाई सावला, पार्ला (वे.), मुंबई, ०९८२१८८६९७६ के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

२१०

बंबई, माघ वदी ३०, १९४७

**‘हमपर आपकी चाहे जैसी भक्ति हो, परन्तु
सब जीवोंके और विशेषतः धर्मजीवके तो हम
त्रिकालके लिये दास ही हैं’**

इस वचनामृतमें कृपालुदेवकी अलौकिक मार्गभक्ति प्रदर्शित होती है। स्वयं-सम्यक्प्रकारसे आत्मगुण प्रगट होनेसे-महान होने पर भी वीतराग धर्मके प्रति उन्हें अलौकिक भक्ति है। इस भक्तिवशात् धर्मप्राप्तिकी भावनासे जो जीव सत्पुरुषकी भक्ति करता है उसके प्रति सरलता और नम्रतापूर्वक त्रिकाल दासत्व रहे, ऐसी मार्गभक्तिके सिद्धांतको यहाँ पर प्रकाशित किया है। मोक्षमार्गी जीवको ऐसे ही भाव होते हैं।



२१३

बंबई, फागुन सुदी ७, शनि, १९४७

‘हम तो कुछ वैसा ज्ञान नहीं रखते कि जिससे त्रिकाल सर्वथा मालूम हो, और हमें ऐसे ज्ञानका कुछ विशेष ध्यान भी नहीं है। हमें तवास्तविक जो स्वरूप उसकी भक्ति और असंगता ही प्रिय है।’

कृपालुदेवके ज्ञानसामर्थ्यकी अतिशयताको देखकर कोई-कोई मुमुक्षुजीवको त्रिकालज्ञानी होनेके खयालसे अत्यंत महिमा हो आती थी, जिसके उपलक्षमें उक्त वचनामृत प्रकाशित हुए हैं। ज्ञानीपुरुषकी इच्छा ऐसी होती है कि अनेक प्रकारसे ज्ञानलब्धियाँ होने पर भी, इसकी आकांक्षा नहीं होनेसे अमुक पारमार्थिक बातको छोड़कर ज्ञानी दूसरी लब्धियोंकी बात प्रसिद्ध नहीं करते, ऐसी अंतर इच्छाके कारण जो कुछ उदयमें आ पड़े, उसमें सहज प्रवृत्ति के सिवा उन्हें कुछ भी कर्तव्यरूप नहीं लगता, अथवा उदयके अलावा दूसरे कार्यमें सहज अप्रयत्नदशा रहती है और स्वरूपभक्तिसे प्राप्त असंगताके अलावा उन्हें कुछ प्रिय नहीं है। ज्ञानका उघाड़ बढ़ानेकी भावना नहीं है।

२१४

बंबई, फागुन सुदी १५, रवि, १९४७

‘उदयकालके अनुसार वर्तन करते हैं क्वचित् मनोयोगके कारण इच्छा उत्पन्न हो तो बात अलग है परन्तु हमें त ऐसा लगता है कि इस जगतके प्रति हमारा परम उदासीन भाव रहता है; वह बिलकुल सोनेका हो त भी हमारे लिये तृणवत् है; और परमात्माकी विभूतिरूप हमारा भक्तिधाम है।’

इस वचनामृतमें कृपालुदेवका समस्त जगतके प्रति परम वैराग्यभाव प्रदर्शित हुआ है। जबकि स्वयं जगत व्यवहारमें उदय अनुसार वर्तन करते हैं फिर भी आत्मा उससे भिन्न हो गया है। स्वयं से भिन्न ऐसा जो मन उसका संयोग होनेसे क्वचित् अल्प इच्छा होती है, वह गिनने योग्य नहीं है, क्योंकि वह इच्छा बहुत अल्प है; और वैराग्य अतिशय वर्त रहा है। जगतके समस्त वैभवका मूल्य एक तृण जितना लगता है; इसलिए परम उदासीनतासे सहज ही वर्तना हो रही है। उदासीनता माने द्वेषभाव नहीं परन्तु जड़-चैतन्यकी स्वाभाविक अवस्थाएँ, मात्र सम्यक्ज्ञानका ज्ञेय है ऐसा दशानिके लिए भक्तिधामकी उपमा दी है।